कृष्णा अग्निहोत्री के उपन्यासों में चित्रित आवासीय समस्या

सुशीला
शोधार्थी, हिन्दी विभाग,
महर्षि दयानन्द विश्वविद्यालय, रोहतक

भूमिका

भारत को स्वतंत्रता देकर अंग्रेज चले गए। लेकिन हमारा देश भयंकर रूप से आर्थिक असमानता से घिरता चला गया। देश में असहज विभाजन की खाई बहुत तेजी से चौड़ी होती चली गई। एक वर्ग के पास पर्याप्त धन–सम्पत्ति और वैभव की सभी सुख–सुविधाएँ थीं। तो दूसरी और देश की निरीह जनता दो जून के रोटी और एक अदद छत के लिए तरसने लगी। हालाँकि सरकार का यह नैतिक दायित्व बनता है कि वे देश के प्रत्येक नागरिक को रोटी, कपड़ा, मकान और रोजगार के समुचित साधन जुटाएँ। लेकिन राजनेता और प्रशासनिक अधिकारियों की कृपया दृष्टि केवल धनाढय वर्ग पर ही रही। यही कारण है कि स्वतंत्रता के इतने वर्षों के बाद भी हमारे देश के लोग आज भी अपने सिर के ऊपर एक छत के लिए तरस रहे हैं। उनके लिए एक घर का होना यक्ष प्रश्न बन गया है। देश के ग्रामीण एवं शहरी दोनों ही वर्गों की असंख्य नागरिक इस गंभीर समस्या से निरंतर जूझ रहे हैं सजग साहित्यकारों ने अपने साहित्य के माध्यम से इस समस्या को निरंतर उजागर किया है। महिला उपन्यासकार कृष्णा अग्निहोत्री के उपन्यासों में भी इस मूलभूत समस्या का चित्रण यथा–योग्य दृष्टव्य है।

मुख्य शब्द – *आवास, समाज, नगरीकरण, शहरीकरण, बढ़ती जनसंख्या*

स्वतंत्रता के बाद देश में चहुँ और प्रगति के नए पंख लगे। लोगों को सुख–सुविधाएँ मिलने लगी। जीवन सुगम और सरल होता चला गया। लेकिन समाज का एक वर्ग ऐसा भी रहा है जिसके लिए मूलभूत सुविधाएँ भी एक दिव्य स्वप्न बनकर रह गया है। उनके लिए किसी भी प्रकार की सुख–सुविधाओं का निर्माण नहीं हुआ। अपितु उनका जीवन पहले से भी अधिक कष्टप्रद बनता चला गया। वे साक्षात नरक के भागी बनने को बाध्य होते चले गए – 'हरिजन, बलई, जीतू के झोपड़े के आस–पास सुअरों का ढेर था – और वह बैठा हुआ एक सुअर की चमड़ी को छीन रहा था। बच्चे हो–हो करते रोटी के टुकड़े पकड़े नंग–धड़ंग घूम रहे थे। मरे हुए ढोरों की बदबू से वेणु की नाक भर गयी और वह नाक ढांक अपने कपड़ों को उठा जीतू के पास खड़ी हुई, वह बड़े मनमौजी ढंग से उसे देखकर बोला, "सोचिए आप नाक ढंक रही हैं और हम सब इसके बल पर अपने बच्चे पालते हैं।"[1] कैसे–कैसे नरक के भागी बन रहे हैं।

हमारे देश के नागरिक जिन्हें एक ऐसा घर भी नसीब नहीं है जहाँ सुख–शान्ति और साफ–सफाई से जीवनयापन किया जा सके। प्रत्येक मौसम में इन लोगों को प्राकृतिक आपदाओं से भी जूझना पड़ता है और इसी गंदगी के ढेर पर अपनी सांसे पूरी करनी होती हैं। "जुगिया पैरों को पेट से जोड़कर सो गई।

ऊपर के छेद से झोपड़ों में ठण्डी–ठण्डी हवा की बरसात हो रही थी।"[2] इस वर्ग के लोगों को रोजगार, रोटी और गरीबी से लगातार लड़ना पड़ता है।

आज भी देश में असंख्य लोग ऐसे है जिनके लिए दैनिक जीवन के आवश्यक साधन जुटाने के लिए अपना अधिकतम समय और श्रम लगाना पड़ता है। देश में जहाँ एक ओर सुख–सुविधाओं के अंबार में लोग ऐश्वर्य का जीवन भोग रहे हैं। वहीं दूसरी ओर ऐसे लोगों की भी कमी नहीं है जिनके लिए जीवन का एक–एक पल व्यतीत करना कठिन होता जा रहा है। – "टीले की पथरीली और उबड़–खाबड़ ढलान पर बरसात में पानी टिका नहीं। झिंगुर ने दरांता उठाया और झौपड़ी के खम्बे ठीक किए। झौपड़े की छत के लिए मकई के टांडे ढूंढने वह चल दिया। उसका मन ग्लानी से भरा था। वह अपने लिए एक कमरा तक नहीं बना सका।"[3] इस वर्ग के लोगों को पीढ़ियों तक इस संघर्ष में जूझना पड़ता है। उनकी इस मौलिक समस्या के लिए किसी सरकार या प्रशासन के कानों पर कोई जूँ नहीं रेंगती।

सरकार के लिए यह वर्ग महज चुनावों में वोट जुटाने का एक सशक्त मंच बन कर रह जाता है और ये लोग उसी प्रकार अनवरत अपना जीवन व्यतीत करते रहते हैं। लेकिन फिर भी इनकी समस्या यथावत बनी रहती है।

"टपरों की जनसंख्या तो बढ़ चली। ऊपर मातंग और माहरों की झुग्गियों में भी बच्चों की बाढ नहीं रुकी पर टपर तो उतने ही थे। खोली बनाना भी उनके वश में नहीं था, न ही टपरों को बढ़ाना, क्योंकि पहले ही टपरे घने आबाद थे। अब तो जमीन के चप्पे–चप्पे पर टपरे और टपरे वाले थे, परंतु बच्चों को जन्म देना तो उनके वश में था।"[4] निरंतर बढती जनसंख्या भी आवासीय समस्या की मूल में बैठी बहुत बड़ी समस्या है।

नगरों में आवासीय समस्या से अधिक दो–चार होना पड़ता है। शहरी जनजीवन नितांत भागदौड़ और मानसिक तनावों का केन्द्र होता है। गाँवों से पलायन और नगरीकरण के बढ़ते दबावों से मानव जीवन कठिन से कठिनतर हो चला है। शहर में गन्दी–सी बस्ती में भी एक छोटा सा कमरा मिलना बहुत बड़ी उपलब्धि कही जा सकती है। – "हाँ बेटी जब मेरे पाँचों बच्चे छोटे थे, मैं गाँव से विमुख पत्नी लेकर इस शहर में आया। छोटे से कमरे में रहता था और वहीं बाल मंदिर खोला। चार बच्चों की पढ़ाई, रात में कई बच्चों की ट्यूशन। वह तो पहले की पढ़ाई तो सो चल गया। आजकल तो बी.ए. की पढ़ाई का भी कितना गया–गुजरा स्टैंडर्ड है।"[5]

शहरीकरण के कारण संयुक्त परिवार व्यवस्था में भी छेद हुए हैं। परिवार की झूठी शान–शौकत को बरकरार रखने हेतु परिजनों को अनेक स्तरों पर अनचाहे समझौते करने पड़ते हैं। परिवार बढ़ते जाते हैं। घर सिकुड़ते जाते हैं। और संबंध भी औपचारिकता के दबावों में दब जाते हैं। शहरी जीवन में तो वैसे ही अनेक समस्याएँ रहती हैं। फिर घर भी यदि इस तरह टुकड़ों में बंट जाए तो जीवन दूभर होना निश्चित ही है। किराएदारों के लिए तो घर खोजना और भी कष्टप्रद होता है। यदि किसी प्रकार कोई घर मिल भी

जाए तो कमान मालिक की मनमानी किराएदार को गुलाम बना देती है। "यूं तो वंदना ने अपना ऊपर का फ्लैट एकदम इन्डिपेंडेंट ही लिया है, परंतु मकान–मालकिन भी साथ ही नीचे रहती है। ऊपर के घर की सीढ़ियाँ उनके भीतरी कमरे में से ही गुजरती हैं। वंदना से जब–जब वे खड़ा करके आने–आने वालों के विषय में पूछताछ शुरू कर देती है।

"अच्छा, तो ये लड़की आपकी विधार्थी है, हाँ भाई, इसके घर वाले कहाँ रहते हैं?"

"अच्छा तो भाई, वो आपके साथ जो आए थे, वे क्या लगते हैं आपके... कुछ नहीं लगते, मित्र हैं। साथ नौकरी करते हैं।" वंदना का स्वर चिढ़ जाता है। मन होता है कह दे, लो भाई, आप मकान मालकिन हैं कि मेरी भी मालकिन हैं। लेकिन आगरा में वैसे ही इतनी कठिनाई से मकान मिला है। उसे भी बहस की भेंट चढ़ाना कतई अच्छा नहीं होगा।"[6] ऐसा लगता है कि किराएदार होना अपराध है और मकान मालिक होना बहुत श्रेष्ठ लगता है। इनकी दृष्टि में किराएदार एक निरिह प्राणी है। वह हर दशा में मकान मालिक से हेय है। तभी तो उससे कभी भी कैसी भी स्थिति में मकान खाली करने की धमकी दी जाती है।

इस प्रकार नगरीय सभ्यता के पनपने और ग्रामीण आंचल से निरंतर पलायन के कारण भी आवासीय समस्या विकराल रूप धारण करती चली गई। सीमित आवास की सुविधा से नए आने वाले लोगों को समाहित करना बहुत बड़ी समस्या बनती जा रही है। लेकिन जो बढ गया है। उसे तो किसी भी तरह से जगह देनी ही होती है। ऐसे में तंग होकर उन्हें स्थान दिया जाता है। इस प्रकार परिजनों के मध्य पनपते अविश्वास और अहं के कारण भी बसे–बसाए घर उजड़ते देखे जा सकते है। और वहीं दूसरी और कुछ लोग धन–सम्पत्ति की अधिकता के चलते अपने गरीब रिश्तेदारों को अपने घर में पनाह देने से भी कतरा जाते हैं। "ऐसा है कि मेरी मौसी अपने फ्लैट में कुत्ते–बिल्ली को पनाह दे सकती है। लेकिन हमें नहीं। सच तो यह है कि उनकी दृष्टि में हमारा कोई अस्तित्व ही नहीं है। अब मौसी के फ्लैट की एक चाबी नानी के पास है तो दूसरी उनकी दोस्त मिली के पास है। हमें तो चाबी भिखमंगो सी माँगनी पड़ती है।"[7]

निष्कर्ष

इस प्रकार हम कह सकते है कि सबकी एक ही समस्या है आवास। वह किसी भी तरह से अर्जित किया जाए बस मिल जाए। इसके लिए नियम–सिद्धान्त वे सब अपनी सुविधानुसार बना लेते हैं। लेकिन निर्धन और साधनहीन लोगों के लिए तो एक छत का सिर के ऊपर होना बहुत बड़ी उपलब्धि हो जाती है। उसके लिए वे मारे–मारे फिरते हैं। ऐसी समस्या केवल आवास के लिए ही नहीं होती अपितु निर्धनों को तो कदम–कदम पर ऐसी समस्याओं का आए दिन नए–नए रूपों में सामना करना पड़ता है। यहाँ तक कि सरकारी व मुफ्त सुविधा मिलने वाले अस्पतालों में तो सिर छिपाने के लिए मरीजों को मारामारी करनी पड़ती है। "मौसम बदला... सारी कागजी व्यवस्था भवन सी टूट चुकी थी। दीवारें चिटक रही थी... भवन की छत न जाने कब नीचे गिर सकती थी... नलों से गन्दा बदबू वाला पानी गिर रहा था... उसमें से कीट मुँह उठा लोगों के पेट तक पहुँचने की लड़ाई लड़ रहे थे। भवन का सामान मिलावटी है... उसे पाने के

लिए आपस में तू–तू मैं–मैं हो रही थी... कुछ बीमार धूप से विहीन बरांडे में कराह रहे थे... पर डॉक्टर मजे में वहाँ गरम–गरम कॉफी पीते और मरीजों से कह रहे थे... अब तुम्हे मर जाना चाहिए। ताकि बिस्तरे खाली हो और दूसरे मरीज यहाँ आ सके।"[8] इस प्रकार यह एक सर्वव्यापी समस्या है जिसके समाधान के लिए प्रशासन को निरंतर प्रयास करने चाहिए। तभी एक स्वतंत्र गांव के नागरिक जी सकेंगे अन्यथा यू ही मरते रहेंगे।

संदर्भ सूची

1. कृष्णा अग्निहोत्री, स्वातन्त्रयोत्तर हिन्दी कहानी, पृ. 22
2. डॉ. कृष्णा अग्निहोत्री, अभिषेक, अमन प्रकाशन, रामबाग, कानपुर, 2013, पृ. 166
3. डॉ. कृष्णा अग्निहोत्री, नीलोफर, कल्याणी पुस्तक परिषद, नई दिल्ली, 2016, पृ. 63, 69
4. डॉ. कृष्णा अग्निहोत्री, टपरेवाले, भारतीय पुस्तक परिषद, नई दिल्ली, 2014, पृ. 122
5. डॉ. कृष्णा अग्निहोत्री, कुमारिकाएँ, कल्याणी शिक्षा परिषद, नई दिल्ली, 2010, पृ. 99
6. वही, पृ. 169
7. डॉ. कृष्णा अग्निहोत्री, अमन प्रकाशन, रामबाग, कानपुर, 2013
8. डॉ. कृष्णा अग्निहोत्री, अभिषेक, अमन प्रकाशन, रामबाग, कानुपर, 2013, पृ. 169